बाबुल की देहरी

डॉ शिप्रा मिश्रा

घर में प्रवेश करते ही नजर आलमारी पर जा रुकी–शर्बत सेट,किताबें, कैसेट्स और न जाने क्या–क्या अबाड़–कबाड़।मन में आया अभी उठाकर सबसे पहले इन्हें बाहर फेंक दूँ।मात्र 5–6 वर्षों में क्या कुछ नहीं बदल गया।कभी ये अलमारी मेरी अमानत थी।करीने से रखी किताबें, कार्ड–बोर्ड,स्केच पेन,पेंट की शीशियाँ, खूबसूरत तसवीरें, डायरी, मेरा मनी बैग,शो पीस और ढेर सारी लुभावनी चीजें।किसी की हिम्मत नहीं होती थी मेरी आलमारी छूने की।हमेशा ताला बंद रहता और चाभी मेरे हाथ में होती।ससुराल जाते वक्त सख्त हिदायत देकर गई थी–"मेरी आलमारी के सामान को इधर–उधर नहीं करना।"आज वही आलमारी अपने बदले रंग–रूप में मुँह चिढ़ा रही थी मुझे। चाय पीकर घर का कोना–कोना देखने की तीव्र लालसा रोक नहीं पाई।पापा के कमरे में जाले लगे थे।उनका स्टडी–टेबल धूल–गर्द से मढ़ा हुआ था।परदे के गाढ़े रंग भी दाग–धब्बों को छुपा पाने में असमर्थ थे।मन में आया,पहले झाड़ू लेकर अभी पूरा कमरा साफ़ करूँ लेकिन फिर कुछ सोच कर रुक गई।श्यामली की बातें याद हो आईं–"दीदी!तुम सामान इधर–उधर नहीं करो,तुम तो रख कर चली जाती हो,पापाजी अपनी चीजों के लिए हमें नाहक डाँटते रहते हैं।जैसे है वैसा ही पड़े रहने दो।"और धूल से भरा पोंछा पल भर के लिए मेरे वजूद पर हँस पड़ा था।मैं आधी सफाई बीच में छोड़ कर ही वापस चली आई थी।

रात में अन्ना और अंशु मिलजुल कर खाना बना रहे थे।माँ को रात में तकलीफ होती है देखने में।अन्ना और अंशु इतने स्वाभाविकता से खाना बनाने में मग्न थे जैसे उन्हें वर्षों का अभ्यास हो।यही अन्ना था जो किचेन में आना तो दूर, जब तक खाना निकाल के न दो,नहीं खाएगा।एक बार व्यस्तता–वश यूँ ही कह दिया था–जरा निकाल के खा लो ना–तो मुँह फुलाए सारा दिन ही कुछ नहीं खाया था।आज उनकी नरम–नरम फूली रोटियाँ और बैगन की सब्जी खाते वक्त मन कुछ अनमना–सा हो रहा था।

बेटे को गोद में लिए अगले दिन धूप सेंकने की इच्छा से बगीचे में आ गई थी।पीले दोहरे गेंदे के बीच इकहरा नारंगी गेंदा का फूल भद्दा–सा लग रहा था।और ये मनीप्लांट कितनी बेहूदगी से फैले हुए हैं और ये बेली का पौधा तो पीलिया–सा गया है।यही बाग थे,यही बगीचा था,यही पौधे थे,पीला गेंदा था तो पूरी लाइन पीली ही होती थी।न जाने कहाँ–कहाँ से लाकर, माँगकर ये पौधे लगाए थे हमने।एक बार तो उजला बोगनवेलिया देखकर अनजान घर के सामने खड़े होकर पौधा माँगा था हमने।वही बोगनवेलिया पुष्प–विहीन होकर उपेक्षित पड़ा था।मेरा मन नहीं लग रहा था।बेटे को कहीं से एक काँच की गोली मिल गई और खेलते–खेलते कहने लगा–"मम्मी ये गोली मिट्टी में लगा दो ना।गोली का पौधा हो जाएगा, फिर हम ढेर सारी गोलियों से खेलेंगे।"

कितना प्यारा था ये घर, कितने प्यारे थे इसके कोने–कोने,ये बाग–बगीचे, ये तालाब और यहाँ के नंग–धड़ंग गाँव के बच्चे।इतना अपनापन मुझे कहीं नहीं मिला।ये अशिक्षित, असभ्य बच्चे शहर के उन स्मार्ट बच्चों से ज्यादा अपने लगते हैं क्योंकि बचपन से ये मेरे वजूद के गवाह हैं।घनी शीतलहरी में जब ये नंगे घूमते थे,धूल में लोटते थे तो उस अपार शक्तिदायिनी प्रकृति के आगे मैं नतमस्तक हो जाया करती थी।कहाँ से मिलती है इनके अंदर प्रकृति के कोप से बचने की सुरक्षा–कवच।प्रकृति के समभागी हैं ये, पहले इन बच्चों को देखकर मन करता था, बड़ी होकर सबके लिए मैं एक– एक स्वेटर–टोपी खरीदूँगी, स्लेट–पेन्सिल खरीदूँगी और खुद पढ़ाउँगी उन्हें।ग्रामीण परिवारों के आपसी कलह में कूद पड़ती थी मैं, औरतों का पक्ष लेकर।पता नहीं उन शराबी, जुआरी मजदूरों से भय क्यों नहीं लगता था।आज मैं मूक दर्शक की तरह खड़ी हूँ।उनके बच्चों के स्वेटर के लिए न तो मेरे पास पैसे हैं, न ही मुझे इस बेमतलब शौक के लिए वक्त ही है।इन घरों में रोज मारपीट होती है, मैं टीवी सीरियल की तरह देखकर,सुनकर अपना मनोरंजन भर कर लेती हूँ।इससे अधिक दिलचस्पी मेरे अंदर नहीं जगती।

प्रवी के जन्म के बाद छः महीने लगातार रह गई थी।यही गाँव वाले पूछ–पूछ कर परेशान कर दिए थे –"बबी ससुराल कब जाएँगी?ससुराल से आती हैं तो बिल्कुल दुबला के आती हैं, काली पड़ जाती हैं।भगवान नजर न लगाएँ, अच्छी भली हो गईं हैं।भगवान बनाए रखें ऐसा नईहर।"

उनकी शोध से तंग आकर माँ ने कह ही दिया –"बेटी!!हर परिवार में दुःख–सुख तो लगा रहता है, ससुराल रहोगी तो धीरे–धीरे तेरा हक बनेगा।यहाँ हम पर तू भार नहीं है लेकिन समाज पर भारी बन गई है।प्रतिष्ठा दाँव पर मत लगा देना।वैसे तेरा घर है, तेरे लिए तो हम हैं ही।"

मैंने बस संज्ञाशून्य होकर सुन भर लिया।औसतन आयु के हिसाब से जीवन का एक तिहाई भाग उम्र गुजारा था इस नीड़ में,अब यह मुझसे विरक्त–सा क्यों लग रहा था?

मुझे याद है जब भी ससुराल जाती थी, मेरे आँसू थमते न थे।लगता था शायद फिर मैं ये दीवारें, ये बगीचे, माँ,पापाजी,अन्ना, अंशु,श्यामली को न देख पाऊँ।ये काले–कलूटे,नंग–धड़ंग बच्चे, ये बूढ़े पीपल का पेड़ –शायद ही मौका मिले इन्हें देखने का।रास्ते–भर विशाल मुझे बाँहो का सहारा दिए शांत कराता रहता।वहाँ पहुँचने के बाद भी मन उदास रहता।विशाल बड़े धैर्य से मुझे दिलासा देता।अब तो कभी अतीत के आँसू ढुलक भी जाते हैं तो विशाल चुपचाप देखकर भी आगे से गुजर जाता है जैसे रोना तो मेरी दिनचर्या में हमेशा से ही शामिल रहा है, यह कोई नई बात नहीं।

घर में कोई सबसे प्रिय है मेरे लिए तो वे मेरे पापाजी।सीमित आय में ही कितने सुनियोजित तरीके से हम सभी भाई–बहनों को पाला था उन्होंने।मेरा रोम–रोम कृतज्ञ है उनका।गाँव के उस असभ्य–अशिक्षित माहौल में हम भाई–बहनों को शिक्षा और संस्कार के आकाश की बुलंदियों तक पहुँचाने का एकमात्र श्रेय उन्हीं का था।कभी मेरे जीवन का उद्देश्य था उनके आदर्शों पर चलना।उनके मार्गदर्शन में एक स्कूल खोलना और उन्हीं की तरह एक आदर्श सिद्धांतवादी

शिक्षक बनकर समाज में एक मिसाल बनना।आज ढेरों प्रश्न मुँह बाए मेरे सामने खड़े थे–"कहाँ गए वे तेरे आदर्श!!वे तेरे वादे!जीवन में कुछ कर गुजरने के वे तेरे दावे!तू तो बड़ी कायर निकली रे!!"

वापसी के समय जब तांगे पर बैठी तो माँ निश्चिंत–सी देख रही थी,पापाजी कुछ सतर्क–से मेरे सामानों को व्यवस्थित कर रहे थे।अन्ना और अंशु निर्विकार भाव से हाथ हिला रहे थे, श्यामली उदास–सी खड़ी थी,मेरे लिए कम प्रवि के लिए अधिक।तांगा आगे बढ़ने लगा तो सारा गाँव, सारे लोग, एक–एक करके छूटने लगे,ओझल होते गए,पीपल का बूढ़ा पेड़ और गाँव का टूटा मन्दिर भी शांत भाव से आकर दृष्टि से गुजर गए।मैंने चश्मे के नीचे से अपनी आँखों को टटोला।मुझे आँसू के कोई चिह्न नजर नहीं आए।विशाल उत्सुकता– से अपना स्वेटर देख रहा था जो पापाजी ने उसे इस बार दिया था।प्रवि ने अपने हाथ का चॉकलेट धीरे–धीरे खोलना शुरू कर दिया था।

मैं तय नहीं कर पाई कि यह जमीन मेरे लिए पराई हो गई है या मैं ही इसके लिए पराई हो गयी हूँ।

डॉ शिप्रा मिश्रा, ई–मेलः shipramishra1969@gmail.com